शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मार्च : १९६० ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ११

हेतु की विपरीतता

चैतन्यस्वभाव की साधना करते-करते साधक को बीच में कुछ राग शेष रह जाता है; किन्तु उसका हेतु राग में वर्तने का नहीं होता; उसका हेतु (अभिप्राय) तो वीतरागरूप से चैतन्यस्वभाव में ही वर्तने का है; इसलिये राग होने पर भी उसका हेतु विपरीत नहीं है; उसका हेतु-उसका ध्येय-तो सम्यक् ही है।

अज्ञानी को चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है और बाह्य विकल्पों में ही अटका रहता है, इसलिये उसके हेतु में ही राग है। राग के हेतु से वह राग में वर्तता है; राग ही उसका ध्येय है; राग से ही वह लाभ मानता है, उससे किंचित् हटकर चिदानन्दस्वभाव में नहीं आता, इसलिये उसका तो हेतु ही मिथ्या है, उसके हेतु में ही विपरीतता है।

राग तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को होता है; किन्तु अज्ञानी को राग रखने का हेतु है और ज्ञानी का हेतु उस राग को दूर करके स्वभाव में स्थिर होने का है।—इसप्रकार दोनों के हेतु में महान अंतर है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१७९]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म के ग्राहकों को नम्र सूचना

चैत्र मास में बारह मास का चन्द समाप्त होता है। महँगाई के कारण ४ ॥) में लागत पड़ने पर भी घाटा उठाकर ३) (तीन रुपया) सालाना ही चन्दा रखा गया है। अत: मनीआर्डर द्वारा ३) रु० भेज देवें। वी० पी० करने में ॥=) व्यर्थ ही लग जाते हैं।

दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

जैनदर्शन शिक्षणवर्ग

ग्रीष्मावकाश की छुट्टियों में विद्यार्थियों के लिये सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग चालू होगा जो कि—वैशाख सुदी १४ मंगलवार ता० १०-५-६० से शुरू होकर जेठ सुदी ६ ता० ३१-५-६० तक चलेगा। यह शिक्षणवर्ग इससमय चार साल बाद खुला है अत: हरेक जिज्ञासु विद्यार्थी धार्मिक शिक्षण का लाभ लेकर छुट्टियों का सदुपयोग करें, ऐसी खास प्रार्थना है। विद्यार्थियों के लिये रहने, जीमने की व्यवस्था संस्था की ओर से होगी। आने के लिये प्रथम पत्र द्वारा जवाब मँगा लेवें।

दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सूचना

ज्ञात होवे कि सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी मिती चैत्र वदी १३ ता० १६-३-६० को सोनगढ़ पधार जावेंगे।

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मार्च : १९६० ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ११

आत्मार्थी जीव का उत्साह

और

आत्मा की लगन

(लेखाङ्क-२)

[श्री पंचास्तिकाय गाथा १०३ के प्रवचनों से]

आत्मार्थी जीव कैसा होता है, उसकी आत्मलगन कैसी होती है और भगवान के प्रवचन में कहे हुए पाँच अस्तिकायों को जानकर, वह अपने आत्मस्वरूप का कैसा निर्णय करता है—उसका विस्तृत, सुन्दर विवेचन इस लेख के प्रथम भाग में आ चुका है; शेषांश इस अंक में दिया जा रहा है। जिन्होंने गताङ्क में पहला लेख न पड़ा हो, वे पहले लेख पढ़कर ही इसे पढ़ें।—ऐसी विनम्र सूचना है।

जो वन-जंगल में वास करनेवाले महान सन्त हैं, जो विदेहक्षेत्र में जाकर सीमंधर परमात्मा की दिव्यवाणी का श्रवण कर आये हैं, जिनकी चारित्र-ज्योति फैल गई है और जो चैतन्यानन्द के झूल में झूल रहे हैं—ऐसे भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का यह कथन है। जो जीव आत्मार्थी बनकर समझेगा, वह दु:खों से परिमुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त करेगा।

सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए पंचास्तिकाय को 'अर्थत: अर्थीरूप से' जानने को कहा, उसमें आचार्यदेव ने मुख्यत: श्रोता की पात्रता बतलाई है। अपना आत्महित साधने के लिये श्रोता के अंतर में महान उत्साह और अभिलाषा है। एक आत्मार्थ साधने के अतिरिक्त अन्य कोई शल्य उसके हृदय में नहीं है।—ऐसे आत्मार्थी जीव को ज्ञानी-सन्तों के पास से भेदज्ञान का उपाय प्राप्त होते ही

महान् उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! आपने हमें अनंत दुःख से निकाल लिया है; भवसमुद्र में डूबने से उबार लिया है; संसार में जिसका कोई बदला नहीं—ऐसा परम उपकार आपने हमारे ऊपर किया है।

जिसप्रकार क्षुधातुर या तृषातुर जीव, दीनरूप से आहार-जल की याचना करता है, उसीप्रकार संसार से थका हुआ—आत्मशांति का अभिलाषी जीव, सन्तों के निकट जाकर दीनरूप से (अत्यन्त विनयपूर्वक) माँगता है कि हे नाथ! जीव को आत्मशांति का उपाय बतलाइये।

आचार्यदेव कहते हैं कि 'हे भव्य! हे जिज्ञासु! प्रथम तो तू आत्मा का अर्थी होकर, सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए छह द्रव्यों को जान; छह द्रव्यों को जानकर ऐसा निर्णय कर कि जगत के पदार्थों में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ। मात्र श्रवण से या विकल्प से नहीं, किन्तु अंतर्लक्ष से—आत्मा को स्पर्श करके—अपूर्व निर्णय कर। आत्मस्वरूप का ऐसा निर्णय ही धर्म की मुख्य भूमिका है।

मैं अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ;—ऐसा निजतत्त्व का निश्चय करके फिर वह मोक्षार्थी जीव क्या करता है?—कि जिस स्वभाव का निश्चय किया, उसी का अनुसरण करता है और उस काल में रागादि भाव प्रवर्तमान होने पर भी उनका अनुसरण नहीं करता, किन्तु उन्हें छोड़ता है; जिसने अपने शुद्ध स्वभाव का निश्चय किया है—ऐसा धर्मी जानता है कि मुझमें जो यह राग-द्वेषादि विकार दिखाई देते हैं, वह मेरे स्वभावभूत नहीं है, किन्तु मुझमें आरोपित हैं। जिस क्षण राग-द्वेष वर्तते हों, उसी क्षण विवेक-ज्योति के कारण धर्मी जीव जानता है कि मेरा स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमात्र है; यह राग-द्वेष तो उपाधिरूप हैं; यह राग-द्वेष की परम्परा मेरे स्वभाव के आश्रय से नहीं, किन्तु कर्मबन्ध के आश्रय से हुई है; लेकिन अब मैं अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्यायों की परम्परा प्रगट करके इस राग-द्वेष की परम्परा का छेदन कर देता हूँ। इसप्रकार अपने स्वभाव का निश्चय करके उसी का ही अनुसरण करनेवाला जीव समस्त दुःखों से परिमुक्त होता है।

अपने नित्यानन्द ज्ञायकस्वभाव को भूलकर कर्मोन्मुखता के कारण बनाने से जीव को अनादि से राग-द्वेष की परम्परा चल रही है और उस राग-द्वेष से कर्मबन्ध होता है;—इसप्रकार राग-द्वेष और कर्मबन्ध की परम्परा अनादि से चली आ रही है, तथापि वह नित्य स्वभावभूत नहीं है किन्तु क्षणिक विभावरूप उपाधि है। धर्मी जीव उस उपाधि को अपने में देखकर, अर्थात् वे विकारीभाव अपने में हैं—ऐसा जानकर, उसी काल अपने निरुपाधिक शुद्धस्वभाव का निश्चय भी

प्रगट प्रवर्तमान होने से उस ध्रुव स्वभाव की ओर झुकता जाता है और राग-द्वेष की परम्परा को तोड़ता जाता है। राग-द्वेष की परम्परा टूटने से कर्मबन्ध भी छूटते जाते हैं और इस क्रम से वह जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

परमाणु का दृष्टान्त देकर आचार्यदेव समझाते हैं कि—स्कन्ध में विद्यमान परमाणु जब जघन्य चिकनाहटरूप परिणमित होने की तैयारी में होता है, तब वह स्कन्ध के साथ के बन्धन से छूट जाता है; उसीप्रकार शुद्धस्वभाव की ओर झुके हुए जीव को रागादि चिकनाहटरूप भाव अत्यन्त क्षीण होते जाने से, वह पूर्व बन्धन से छूटता जाता है; उसे नवीन बन्धन नहीं होता; इसलिये उबलते हुए पानी जैसे अशांत दु:खों से वह परिमुक्त होता है।

देखो, आत्मा के अर्थीरूप से पंचास्तिकाय को जानने का यह फल है! जो जीव आत्मा का सच्चा अर्थी हुआ, उसे आत्मा की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। पंचास्तिकाय को जानकर, उसमें से अपने शुद्ध आत्मा को पृथक् करके (अर्थात् निर्णय में लेकर, श्रद्धा-ज्ञान करके) उसमें लीन होना, वह मोक्ष का उपाय है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि—काल सहित पाँच अस्तिकाय का प्रतिपादन करनेवाला यह 'पंचास्तिकाय' वह जिन प्रवचन का सार है, क्योंकि जिन प्रवचन में छह द्रव्य का ही समस्त विस्तार है। छह द्रव्य और उनके गुण-पर्यायों में सब समा जाता है। बन्धमार्ग, मोक्षमार्ग, हित-अहित, सुख-दु:ख, जीव-अजीव, संसार-मोक्ष, धर्म-अधर्म—यह सभी छह द्रव्यों के विस्तार में आ जाता है।

छह द्रव्यों में जीवास्तिकाय अनंत हैं, पुद्गलास्तिकाय भी अनंत हैं, धर्म, अधर्म और आकाश—यह तीनों एक-एक हैं और कालद्रव्य असंख्य हैं। इन द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व स्वयं अपने में ही परिपूर्णता को प्राप्त होता है; प्रत्येक जीव या प्रत्येक परमाणु—वे सब अपने-अपने स्वतंत्र अस्तित्व से परिपूर्ण हैं; किसी के अस्तित्व का अंश दूसरे में नहीं है। अपने-अपने गुण-पर्यायोंस्वरूप जितना अस्तित्व है, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की सीमा है, उतना ही कार्य क्षेत्र है; कोई भी द्रव्य अपने अस्तित्व की सीमा से बाहर कुछ भी कार्य नहीं कर सकता; और दूसरे के कार्य को अपने अस्तित्व की सीमा में नहीं आने देता;—ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, और सर्वज्ञ भगवान अरहन्तदेव ने उसे प्रसिद्ध किया है।

हे जीव! तेरे हित-अहित का कर्तव्य तुझमें ही है; तुझसे भिन्न ऐसे पाँच अजीवद्रव्यों में

अथवा अन्य जीवों में कहीं तेरा हित-अहित नहीं है; तू स्वयं ही अपने हित-अहितरूप कार्य का कर्ता है; अन्य कोई तेरे हित-अहित का कर्ता नहीं है; तो अब तुझे अपना अहित कब तक करना है!! अभी तक तो अज्ञान से पर को हित-अहित का कर्ता मानकर तूने अपना अहित ही किया है; किन्तु अब तो—'निर्णय कर!! कि-अपने हित-अहित का कर्ता मैं स्वयं ही हूँ; अपना अहित टालकर हित करने की शक्ति मुझमें ही है'—ऐसा समझकर तू अपना हित करने के लिये जागृत हो। पर के अस्तित्व से अपने अस्तित्व की अत्यन्त पृथक्ता जानकर, अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की ओर उन्मुख हो!—यही जिनप्रवचन का तथा सन्तों का उपदेश है; और यही मोक्ष का उपाय है।

हे जीव! तेरा अस्तित्व तुझमें और दूसरों का अस्तित्व दूसरे में; अपने हित के लिये तुझे दूसरों की ओर देखना पड़े या दूसरों के लिये तुझे रुकना पड़े—ऐसा नहीं है।

प्रश्नः—दूसरों का तो ठीक, किन्तु इस शरीर को सँभालने के लिये तो रुकना पड़ता है न?

उत्तरः—भाई, देह का अस्तित्व पुद्गल में और तेरा अस्तित्व तुझमें; तेरे सँभालने से शरीर का अस्तित्व बना रहेगा—ऐसा नहीं है। जीव का अस्तित्व अपने ज्ञानादि गुणों में है, देह में नहीं है; और देह का अस्तित्व अजीव परमाणुओं में है, जीव में नहीं है। किसी के कारण किसी का अस्तित्व नहीं है; तो फिर दूसरों के लिये रुकना पड़े, यह बात ही कहाँ रही?

अरे, कर्म के कारण रुकना पड़े—ऐसा भी नहीं है... कर्म का अस्तित्व पुद्गल में है और जीव का अस्तित्व जीव में है; राग का अस्तित्व भी जीव में है। जीव और कर्म दोनों का अस्तित्व ही भिन्न है; किसी के कारण किसी का अस्तित्व नहीं है।

इसप्रकार पंचास्तिकाय को भिन्न-भिन्न जानकर, शुद्ध चैतन्यस्वरूप ऐसे निज आत्मा को पृथक् करना चाहिये; इसकी मुख्यता—प्रधानता करके, उसकी महिमा का चिंतवन करके, उस ओर झुकना चाहिये। इस जगत के अनंत द्रव्यों में शुद्ध ज्ञानरूप निज-आत्मा ही मैं हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरा नहीं है—ऐसा निश्चय करके उसरूप अनुभव करना चाहिये। जगत के समस्त सत् पदार्थों की सत्ता स्वीकार करके, स्वकीय चैतन्यसत्ता की शरण लेने की यह बात है। जगत के पदार्थों को जान-जानकर क्या करना चाहिये?—तो कहते हैं कि अपने चैतन्यस्वभाव की शरण लेना चाहिये, उसका आश्रय करना चाहिये।

❖ **जगत् में छह प्रकार के द्रव्य;**

❖ **उनमें एक जीव, पाँच अजीव;**

❖ **जीव अनंत; वह प्रत्येक ज्ञानस्वरूप;**

❖ **उनमें अपना आत्मा भिन्न, ज्ञानस्वरूप।**

—इसप्रकार अपनी आत्मा का जगत से भिन्न निर्णय करना चाहिये। किस स्वरूप से निर्णय करना ?—तो कहते हैं कि विशुद्ध चैतन्यस्वरूप से।

जीव के अस्तित्व में दो पक्ष हैं—द्रव्य और पर्याय; उसमें से द्रव्य तो शुद्ध एकरूप है, और पर्याय में शुद्धता-अशुद्धता दोनों होते हैं। प्रथम शुद्ध द्रव्यस्वभाव का निर्णय कराया कि विशुद्ध चैतन्य स्वरूप से अपने आत्मा का निर्णय करना चाहिये। शुद्ध द्रव्यस्वरूप का निर्णय कराने के पश्चात् पर्याय में जो विकार है, उसका भी ज्ञान कराते हैं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप तो अनारोपित-मूलस्वभाव है और विकार आरोपित विभाव है। शुद्ध द्रव्य के निर्णय बिना आरोपित ऐसे विकार का ज्ञान नहीं होता।

यदि शुद्ध स्वरूप के ज्ञान बिना मात्र विकार को जानना चाहे तो उस विकार को ही मुख्य-निजस्वरूप मान लेगा; इसलिये सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। जिसप्रकार निज जीव को जाने बिना छह द्रव्यों का ज्ञान नहीं होता, उसीप्रकार उपादान को जाने बिना निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसप्रकार निश्चय के बिना सच्चा व्यवहार नहीं होता, उसीप्रकार शुद्धस्वरूप को जाने बिना अकेले विकार का यथार्थ ज्ञान नहीं होता;—यह महा सिद्धान्त है।

जिसप्रकार उष्ण दशा के समय भी पानी में शीतल स्वभाव है, उसीप्रकार पर्याय में विकार के समय भी आत्मा में शुद्ध निर्विकारी चैतन्यस्वभाव है—ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

प्रश्न:—उस स्वभाव का निर्णय किस प्रकार होता है ?

उत्तर:—उस स्वभाव की ओर के ज्ञान से ही उसका निर्णय होता है। जिसप्रकार उष्णता के समय पानी में शीतल स्वभाव है; वह स्वभाव हाथ-पाँव या आँख-कान-नाक-जिह्वा आदि इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता, तथा आकुलता-राग-द्वेष-संकल्प-विकल्प द्वारा भी उसका निर्णय नहीं होता; किन्तु पानी के स्वभाव सम्बन्धी ज्ञान द्वारा ही उसका निर्णय होता है। उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में विकार होने पर भी सर्वज्ञदेव ने आत्मा का स्वरूप शुद्धचैतन्यस्वभावी कहा है और ज्ञानियों ने उसका अनुभव भी किया है; उस शुद्ध स्वभाव का निर्णय किन्हीं इन्द्रियों से या मन के संकल्पों-विकल्पों द्वारा नहीं होता; किन्तु ज्ञान को अन्तरोन्मुख करने पर ही उसका निर्णय होता है। ज्ञान को अन्तरोन्मुख करते ही स्वभाव का स्पर्श होकर ऐसा निर्णय होता है कि अहा! मेरा स्वभाव

आकुलता और आताप रहित परम शांत है; क्षणिक आकुलता, वह मेरा परम स्वरूप नहीं है; मेरा परम स्वरूप तो आनन्द से परिपूर्ण है।

[यहाँ पानी के दृष्टान्त में और आत्मा के सिद्धान्त में इतना अंतर है कि—उष्ण जल के शीतल स्वभाव का निर्णय करने पर उसी क्षण उसकी शीतलता का वेदन हो या न भी हो; किन्तु आत्मा के शुद्ध स्वभाव का निर्णय करने पर उसी क्षण अंतर में उसकी शुद्धता के अंश का आनन्द सहित वेदन अवश्य होता ही है। जबतक ऐसा वेदन न हो, तबतक स्वभाव का सम्यक्-निर्णय नहीं कहा जा सकता।]

अरे, जीवों का लक्ष बाह्य में भटकता है, किन्तु स्वोन्मुख नहीं होता; इसलिये अपनी महत्ता भासित नहीं होती और पर की ही महत्ता भासित होती है। "सिद्ध भगवन्त कितने महान हैं, अरहन्त भगवान और सन्त-मुनिवर कैसे महान हैं!"—इसप्रकार उनकी महत्ता के गीत गाता है, किन्तु हे भाई! तू दिन-रात जिनका गुणगान करता है, वह तो तू स्वयं ही है। सन्त कहते हैं कि—जैसा हमारा आत्मा, वैसा ही तेरा आत्मा; इसलिये हे भाई! तू अपने स्वभाव की महत्ता को लक्ष में ले। पुनश्च, अरहन्त-सिद्ध या सन्त-धर्मात्माओं की सच्ची महत्ता तभी समझ में आती है, जब अपने स्वभाव की महत्ता को समझ ले। सर्वज्ञ और सन्तों ने जिस मार्ग से अंतर में प्रवेश किया, वह तेरा मार्ग तुझमें ही है। अंतर में चिदानन्दस्वरूप में से सहज शीतल आनन्द प्रगट करके उन्होंने आताप का नाश किया है; तू भी आताप का नाश करके सहज शीतल आनन्द प्रगट करने के लिये अपने चिदानन्दस्वरूप की ओर उन्मुख हो!

हे जीव! तेरे आनन्द का अस्तित्व तेरे स्वभाव में है, बाह्य में नहीं है। जगत के बाह्य पदार्थों की जो कुछ परिणति होती हो, उसके साथ तेरा कोई लेन-देन नहीं है। अपने दुःख में भी तू अकेला और अपनी शांति में भी अकेला। सर्वज्ञ तेरे निकट बैठे हों फिर भी वे तेरी परिणति को नहीं सुधार नहीं सकते और अनेक शत्रु तुझे घेर रहे हों, तथापि वे तेरी शांति में बाधक नहीं हो सकते। अपने अंतर स्वभाव के अवलम्बन बिना बाहर से शांति नहीं आयेगी, और स्वभाव के अवलम्बन से जो शांति प्रगट हुई, उसे कोई दूसरा बिगाड़ नहीं सकता। अहा, कितनी स्पष्ट वस्तुस्थिति।

तथापि, बाहर से मेरी शांति आती है और दूसरा मेरी शांति को लूट सकता है—ऐसी अज्ञानी जीव की भ्रमणा दूर नहीं होती। यदि यह वस्तुस्थिति समझ ले तो अंतर्मुख होकर अपनी शांति

अपने अंतर में ढूँढ़े; और अंतर-शोधन से शांति प्राप्त हुए बिना नहीं रहती। भगवान को और सन्तों को शांतरस प्रगट हुआ, वह कहाँ से प्रगट हुआ है ? अंतरस्वभाव में शांतरस का समुद्र भरा था, वही उल्लसित होकर प्रगट हुआ है। हे जीव! सम्यग्ज्ञान के द्वारा तू भी अपनी स्वभावशक्ति को उछाल! अहो! मेरे चिदानन्दस्वभाव में ही शांतरस का समुद्र भरा है—ऐसा विश्वास करके, उसमें एकाग्रता करना ही शांति का उपाय है।

मेरी शांति और उस शांति का उपाय, बाह्य इन्द्रिय-विषयों में नहीं है, किन्तु अंतरंग अतीन्द्रियस्वरूप में ही है;—इसप्रकार प्रथम ज्ञान द्वारा अपने अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव का निर्णय कर। "मैं कौन हूँ?"—इसप्रकार अपने निजस्वरूप को जानने के लिये तेरे अतीन्द्रिय-ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय नहीं है।

भले ही तेरे चारों ओर सन्त-मुनियों के समूह बैठे हों, तथापि अपने अंतरस्वभाव के आश्रय बिना तुझे शांति देने में कोई समर्थ नहीं है; और यदि तूने अपने स्वभाव का आश्रय किया है, तो फिर भले ही सारी दुनिया डोल उठे या समस्त ब्रह्माण्ड में उथल-पुथल मच जाये, तथापि तेरी शांति को डिगाने में कोई समर्थ नहीं है। इसप्रकार, जगत से भिन्न अपने अस्तित्व को जानकर, तथा मेरी शान्ति का परिणमन मेरे अंतरंग साधनों के आधीन है—ऐसी प्रतीति करके जो जीव अपने अंतर में स्थिर होता है, वह परमशांतरस प्रगट करके सर्व दुःखों से मुक्त होता है।

जिसप्रकार उबलता हुआ पानी किंचित्मात्र शांत नहीं रहता; उसीप्रकार जीव इस संसार में घोर दुःखों से उबल रहा है; उसे किंचित्मात्र शांति नहीं मिलती;—ऐसे संसार के दुःखों से जो व्याकुल और भयभीत हो रहा है और किसी भी प्रकार उनसे छूटना चाहता हो, वह जीव सच्चा आत्मार्थी होकर शांति का उपाय ढूँढ़ता है। आत्मशांति का इच्छुक जीव प्रथम तो, जगत में कैसे तत्त्व हैं, उन्हें जानता है और यह भी जानता है कि उनमें स्वयं कौन है ? फिर, अपने यथार्थ शुद्ध स्वभाव का निर्णय करके अन्तरोन्मुख होता है और इसप्रकार वह शांति प्राप्त करता है।

देखो, अपने अंतरस्वभाव की ओर उन्मुख होने से जब उसकी अतीन्द्रिय शांति का अंशतः वेदन हुआ, तब वह जीव जानता है कि अहा! मेरा आत्मा ही ऐसा शांतिस्वरूप है; यह जो शांति का वेदन हुआ है, वह मेरे स्वभाव में से ही आई है; मेरा सम्पूर्ण स्वभाव ऐसी शांति से सदा परिपूर्ण है। यह जो राग-द्वेषादि विकारी भावों का वेदन होता है, वह वेदन मेरे स्वभाव में से नहीं आया है; वह

तो मुझमें आरोपित है; विकार मेरे स्वभावभूत नहीं है, किन्तु उपाधिरूप है। इसप्रकार वेदन के स्वाद की भिन्नता से विकारीभाव उसे अपने स्वभाव से स्पष्टत: पृथक् दिखाई देते हैं। उस क्षण ज्ञानी को विकार का प्रवर्तन होने पर भी सम्यग्ज्ञानरूप विवेक ज्योति भी साथ-साथ वर्त रही है। एक ओर शांतरस के समुद्र समान शुद्ध स्वभाव को जानता है और दूसरी ओर मैले पानी के गढ्डे जैसे विकार को जानता है;—इसप्रकार दोनों को जानता हुआ, विकार को तुच्छ जानकर, उसे छोड़ता जाता है और शुद्धस्वभाव की महत्ता को जानकर उस ओर झुकता जाता है।—इसप्रकार अल्पकाल में ही वह जीव समस्त दु:खों का नाश करके, परम आनन्दस्वरूप मुक्ति प्राप्त करता है।

स्व-उपयोग और धर्म; निश्चयनय और निर्विकल्प आनन्द;
सम्यक्त्व-सन्मुख जीव की परिणति का बल;
साधक की परिणति; इत्यादि सम्बन्धी

सुन्दर तत्त्वचर्चा

प्रश्न—धर्मी के ज्ञान का उपयोग पर की ओर होता है ?

उत्तर—हाँ; साधकदशा में धर्मी के ज्ञान का उपयोग पर की ओर भी होता है।

प्रश्न—ज्ञान का उपयोग पर की ओर हो, तथापि धर्म होता है ?

उत्तर—हाँ; पर की ओर उपयोग के समय भी धर्मी को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जितना वीतरागभाव हुआ है, उतना धर्म तो वर्तता ही है; ऐसा नहीं है कि जब स्व में उपयोग हो, तभी धर्म होता है और जब पर में उपयोग हो, तब धर्म होता ही नहीं। पर की ओर उपयोग के समय भी धर्मी को सम्यग्दर्शनरूप धर्म तो अखण्डरूप से वर्तता ही है, तथा चारित्र की परिणति में जितना वीतरागी-स्थिरभाव प्रगट हुआ है, उतना धर्म भी वहाँ वर्तता ही है।

प्रश्न—ज्ञानी का उपयोग भी पर की ओर हो और अज्ञानी का उपयोग भी पर की ओर हो तो उसमें क्या अंतर है ?

उत्तर—उसमें महान अंतर है। पहली बात तो यह है कि ज्ञानी को सम्यग्दर्शन के समय एक बार तो विकल्प टूटकर उपयोग स्वोन्मुख हो गया है; इसलिये भेदज्ञान होकर प्रमाणज्ञान हो गया है। अब, उनका उपयोग पर की ओर जाये, तब भी भेदज्ञान प्रमाण तो साथ ही साथ वर्तता ही है; जबकि अज्ञानी तो एकान्त पर को ही जानता है, पर से भिन्न स्वतत्त्व की उसे खबर ही नहीं है; इसलिये परोन्मुख उपयोग से पर को जानने के कारण, उसी के साथ ज्ञान की एकता मानता है; इसलिये उसका ज्ञान ही मिथ्या है। ज्ञानी के तो जगत के किसी भी ज्ञेय को जानते समय प्रमाणज्ञान साथ ही साथ वर्तता है, इसलिये सम्यग्ज्ञान का परिणमन उनके सदैव वर्तता रहता है।—इसप्रकार अज्ञानी को तो मात्र पर की ओर का उपयोग एवं अधर्म ही है; ज्ञानी को पर की ओर के उपयोग के समय साथ ही अंशतः शुद्धतारूप धर्म भी है।

प्रश्न—स्वोन्मुख उपयोग कब होता है ?

उत्तर—अज्ञानी को तो स्वोन्मुख होता ही नहीं; समस्त ज्ञानियों को एकबार तो (निर्विकल्प अनुभूति के समय) स्वोन्मुख उपयोग हो ही जाता है; तत्पश्चात् चौथे-पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में पर की ओर उपयोग होता है; चौथे-पाँचवें गुणस्थान में कभी-कभी उपयोग स्व में स्थिर हो जाने से निर्विकल्प आनन्द की विशिष्ट अनुभूति होती है। मुनिवरों का उपयोग तो बारम्बार स्वोन्मुख होता रहता है। एक साथ अंतर्मुहूर्त से अधिक समय तक उनका उपयोग पर में नहीं रहता। सातवें तथा आगे के गुणस्थान में तो उपयोग की स्व में ही एकाग्रता होती है।

साधक का उपयोग एक साथ दीर्घकाल तक स्व में स्थिर नहीं रह सकता; यदि उपयोग स्व में विशेष स्थिर हो जाये तो शुक्लध्यान की श्रेणी लगाकर तुरन्त केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

मुनिदशा में तो बहुत थोड़े-थोड़े काल के अंतर से उपयोग स्वोन्मुख होकर बारम्बार निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता रहता है; जब कि चौथे-पाँचवें गुणस्थान में वह कभी-कभी होता है; उसमें विशेष अन्दर पड़ता है, और किसी समय तुरन्त भी हो जाता है।

प्रश्न—सविकल्पदशा में निश्चयनय होता है ?

उत्तर—निश्चयनय का उपयोग शुद्ध आत्मा को ही ध्येय बनाकर जब उसमें स्थिर हो

जाता है, तब निर्विकल्पता ही हो जाती है, इसलिये वास्तव में तो निश्चयनय के समय निर्विकल्पदशा ही होती है।

—तथापि शुद्धस्वभाव की ओर ढलते हुए उपयोग को सविकल्पदशा में भी किसी-किसी स्थान पर निश्चयनयरूप से कहा गया है; वहाँ वह उपयोग शुद्ध स्वभाव की ओर झुकता जाता है... वह आगे बढ़ते-बढ़ते विकल्प तोड़कर अभेद द्रव्य को प्राप्त हो जायेगा और निर्विकल्प अनुभूति में स्थिर हो जायेगा; उस अपेक्षा से सविकल्पदशा के समय भी उपयोग को उपचार से निश्चयनय कहा है; सविकल्पता होने पर भी परिणति आत्मोन्मुख ही हो रही है—ऐसा यह उपचार बतलाता है।

अभेद द्रव्य की ओर जिसका झुकाव नहीं है—वहाँ तक जो पहुँच नहीं पाता, उस जीव के शुद्धस्वभाव सम्बन्धी सविकल्प चिंतन को निश्चयनय नहीं कहा जा सकता; उपचार से भी नहीं कहा जा सकता। उसे निश्चयनय का विकल्प है—मात्र राग ही है, किन्तु निश्चय 'नय' उसे नहीं है।

जीव को शुद्धनय का—निश्चयनय का 'पक्ष' भी पहले कभी नहीं आया है;—ऐसा कहकर उसमें जो निश्चयनय के पक्ष की भी अपूर्वता बतलाई है, वह तो स्वभावोन्मुख होते हुए जीव की बात है। निकट भविष्य में ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की जिसकी तैयारी है और उसके लिये स्वभाव को लक्ष में लेकर उस ओर बल लगा रहा है—ऐसे जीव की उस दशा को भी अपूर्व माना है; उसको निश्चयनय का पक्ष माना है। फिर स्वभाव की ओर के बल से तुरन्त ही उसका विकल्प टूटकर उपयोग अंतर में स्थिर हो जाने से साक्षात् निश्चयनय होता है, उस समय निर्विकल्पता है। निश्चयनय के उपयोग के समय आत्मानन्द के साथ ज्ञान का एकाकार होने पर अद्भुत निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति होती है... अहो... निर्विकल्प दशा का वह आनन्द विकल्पगोचर नहीं है।

प्रश्नः—अनादिकालीन अज्ञानी जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व तो मात्र विकल्प ही होता है न?

उत्तर—नहीं; मात्र विकल्प नहीं है। स्वभावोन्मुख होते हुए जीवों को विकल्प होने पर भी उसी समय आत्मस्वभाव की महिमा का लक्ष भी काम करता है, और उस लक्ष के बल से ही वह जीव आत्मा की ओर अग्रसर होता है; कहीं विकल्प के बल से आगे नहीं बढ़ा जाता।

अपूर्वभाव से स्वभाव को लक्षगत करके, जिसकी परिणति पहली बार ही शुद्ध स्वभाव के अनुभव की ओर झुक रही है, जिसकी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की तैयारी है—ऐसे जीव की मुख्य परिणति का अलौकिक वर्णन करते हुए यहाँ पूज्य गुरुदेव ने कहा था कि—स्वभाव को लक्ष में लेकर उसके अनुभव का प्रयत्न करते हुए उस जीव को राग तो है किंतु उसका जोर राग की ओर नहीं जाता; उसका जोर तो अंतरस्वभाव की ओर ही जाता है; इसलिये उसकी परिणति स्वभावोन्मुख हो जाती है और राग टूटकर निर्विकल्प अनुभव होता है। पहले राग था, उसका कहीं यह फल नहीं है, किन्तु अंतर में स्वभाव की ओर का जोर था, उसका फल है। यद्यपि उसका यह फल कहना भी व्यवहार है, वास्तव में तो वह सम्यग्दर्शन के समय का प्रयत्न भिन्न ही है, किन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन से पहले की दशा में जो विशेषता है, वह बतलाना है, इसलिये ऐसा कहा है।

राग की ओर का जोर टूटने लगा और स्वभाव की ओर का बढ़ने लगा, वहाँ (सविकल्पदशा होने पर भी) अकेला राग ही काम नहीं करता, किन्तु राग के अवलम्बन से रहित, स्वभाव की ओर के जोरवाला एक भाव भी वहाँ काम करता है, और उसके जोर से आगे बढ़ता-बढ़ता पुरुषार्थ का कोई अपूर्व पराक्रम करके निर्विकल्प आनन्द के वेदनसहित सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो जाता है।

एकबार ऐसा निर्विकल्प अनुभव हो जाने के पश्चात् ज्ञानी को फिर विकल्प भी आये, और विकल्प के समय निश्चयनय का उपयोग न हो, तथापि उस समय भी उस ज्ञानी को ज्ञान का प्रमाणरूप परिणमन-सम्यग्ज्ञानपना-भेदज्ञान तो वर्त ही रहा है, तथा दृष्टि तो निश्चयनय के विषयरूप शुद्ध आत्मा पर ही सदैव पड़ी है। अब, उसे जो विकल्प उठता है, वह पहले जैसा नहीं है, पहले अज्ञानदशा में तो उस विकल्प के साथ एकता मानकर वहीं अटक जाता था, और अब भेदज्ञानदशा में तो उस विकल्प को अपने स्वभाव से पृथक् ही जानता है, इसलिये उसमें नहीं अटकता, किन्तु शुद्धस्वभाव की ओर ही जोर रहता है।—ऐसी साधक जीव की परिणति होती है।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

(गतांक से आगे)

[वीर संवत् २४८२, अषाढ़ कृष्णा २; समाधिशतक गाथा ३०]

शिष्य पूछता है कि—प्रभो! ऐसे शरणभूत आत्मा की प्राप्ति का उपाय क्या है? अभयपदरूप जो मेरा परमात्मतत्त्व, उसका क्या स्वरूप है और मैं किसप्रकार उसका अनुभव करूँ?—ऐसा पूछने पर श्री पूज्यपाद—'जिनेन्द्रबुद्धि' देवनन्दीस्वामी कहते हैं कि—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥३०॥

सर्व इन्द्रियों को रोककर, अर्थात् उपयोग को अंतर्मुख करके, स्थिर होकर अंतर आत्मा द्वारा अवलोकन करने पर, उस क्षण जो अनुभव में आता है, वही परमात्मतत्त्व है।

यह परमात्मतत्त्व अंतर्मुख अनुभव का ही विषय है; बाह्य इन्द्रियों द्वारा वह प्रतिभासित नहीं होता। अतीन्द्रिय परमानन्दमय आत्मतत्त्व है; ज्ञानी अंतर-अवलोकन से उसका अनुभव करते हैं। संकल्प-विकल्प द्वारा भी चैतन्यतत्त्व अनुभव में नहीं आता; आत्मा में उपयोग को स्थिर करने से ही वह अनुभव में आता है। यही परमात्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय है। ऐसा परमात्मस्वरूप ही आत्मा को अभय का स्थान है; उससे बाहर तो सब भयस्थान ही हैं; कहीं शरण नहीं है।

जिसे आत्महित करना है, आत्मा के आनन्द का अनुभव करना है, उसे बाह्य विषयों से विमुख होकर, अंतर-स्वभावोन्मुख होने जैसा है। अभी जो बाह्य विषयों में सुख मानता है, बाह्य पदार्थों का कर्तृत्व मानता है, वह बाह्य विषयों से विमुख होकर अंतरोन्मुख कैसे होगा? अंतर के चैतन्य में ही सुख है; बाह्य विषयों में मेरा किंचित् सुख नहीं है—ऐसा निर्णय करके, उपयोग को

अंतर्मुख करके स्थिर होने से परमात्मतत्त्व के आनन्द का अनुभव होता है। चैतन्यसत्ता के अवलोकन की विद्या बिना जीव का हित नहीं होता। चैतन्यसत्ता की शरण के बिना निर्भयता नहीं होती।

इन्द्रियों से पार होकर अंतर्मुख ज्ञान द्वारा जहाँ परमात्मस्वरूप को जाना, वहाँ भान हुआ कि मेरा आत्मा ही परमात्मा है। अंतर में स्वसंवेदन से जो तत्त्व जाना, वही परमात्मा का स्वरूप है। आत्मा के अनुभव द्वारा ऐसे परमात्मतत्त्व को जानने का उद्यम करना चाहिये।

अतीन्द्रिय आत्मा की ओर झुकाव होने से बाह्य इन्द्रियविषयों की वृत्ति छूट जाती है। बाह्य विषय तो छूटे ही हैं, किन्तु उपयोग को उस ओर से हटाकर आत्मस्वभाव में ले जाना है। प्रथम तो अपने परिणाम में ही ऐसा भासित होना चाहिये कि मेरे उपयोग का झुकाव पर की ओर जाये, उसमें मेरा सुख नहीं है... अंतर में उपयोग की उन्मुखता ही सुख है।—ऐसे निर्णयपूर्वक उपयोग को अंतर में एकाग्र करना ही परम आनन्द के अनुभव की रीति है ॥३०॥

ज्ञानी जानता है कि मैंने स्वानुभव से जिस परमात्मतत्त्व को जाना, वही मैं हूँ; मैं ही परमात्मा हूँ; इसलिये मैं ही अपनी उपासना के योग्य हूँ, अपने से भिन्न अन्य कोई मुझे उपास्य नहीं है—ऐसा अब कहते हैं।

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

जो परमात्मतत्त्व है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही परमात्मतत्त्व हैं; इसलिये मैं ही अपना उपास्य हूँ; मुझसे भिन्न अन्य कोई मुझे उपास्य नहीं है—ऐसी वस्तुस्थिति है।

अज्ञानी ऐसा नहीं जानता कि 'आत्मा ही परमात्मा है' और आत्मा से भिन्न बाह्य में दूसरे को अपना उपास्य मानता है। ज्ञानी तो जानता है कि परमात्मशक्ति का पिण्ड मेरा आत्मा ही है; परमात्मा और मैं पृथक् नहीं हैं; इसलिये मेरा आत्मा ही मेरा उपास्य है और मैं अपना ही उपासक हूँ। कौन से परमात्मा?—अपने से भिन्न अरिहंत और सिद्धपरमात्मा वास्तव में इस आत्मा के उपास्य नहीं हैं; स्वयं अपने आत्मा को ही परमात्मारूप से जानकर, उसी की अभेदरूप से उपासना करे, तब व्यवहार से अन्य परमात्मा की उपासना कही जाती है। अरिहंत और सिद्ध परमात्मा व्यवहार से ही इस आत्मा के उपास्य हैं और यह आत्मा उनका उपासक है; किन्तु निश्चय से अरिहंत और सिद्ध समान मेरा आत्मा ही मुझे उपास्य है; परमात्मपने की शक्ति मुझमें ही है। उसकी

अभेदरूप से उपासना करने पर मैं स्वयं ही परमात्मा हो जाऊँगा। मुझसे भिन्न बाह्य में अन्य कोई मुझे उपासना के योग्य नहीं है।

देखो, यह उपासना!! भाई! तुम किसके उपासक हो?—ज्ञानी कहते हैं कि हम तो अपने शुद्ध आत्मा के ही उपासक हैं; अपना शुद्ध आत्मा ही हमारा परम इष्ट आराध्यदेव है। पंच परमेष्ठी प्रभु व्यवहार से आराध्य हैं, किन्तु निश्चय से उन जैसा मेरा शुद्ध आत्मा ही मेरा आराध्य है। अंतर्मुख होकर स्वयं अपने आत्मा की उपासना करना, वह परमात्मा होने का उपाय है—ऐसी ही वस्तु की मर्यादा है।

[वीर संवत् २४८२; अषाढ़ कृष्णा ३]

किसकी आराधना से आत्मा को समाधि होती है—उसकी यह बात है।

जैसे सिद्धभगवान हैं, वैसा ही परिपूर्ण मेरा स्वरूप मुझमें शक्तिरूप से है। मैं जिस परमात्मपद को प्राप्त करना चाहता हूँ, वह कहीं बाह्य में नहीं है किन्तु मुझमें ही है;—ऐसी आत्मस्वभाव की भावना के बल से ही समाधि होती है।—ऐसे चैतन्य की भावना का अवलंबन करने पर इन्द्रियविषयों से विरक्ति होकर वैराग्य की दृढ़ता होती है।

जीव विकार से तो छूटना चाहता है। जिससे छूटना चाहता है, वह कहीं छूटने में सहायता करेगा? रागादि विकार से तो छूटना है, तो फिर उस छूटने में राग कैसे सहायक होगा? राग करते-करते छुटकारा होगा—ऐसा जो मानता है, उसे वास्तव में राग से छूटने की भावना नहीं है। पुण्य करते-करते मोक्ष के द्वार खुल जायेंगे—ऐसा माननेवाले को मोक्ष की सच्ची भावना ही नहीं है; मोक्ष को वह वास्तव में जानता ही नहीं है।

यहाँ पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि अहो! जिन्हें मोक्ष की भावना हो, आत्मा को भवभ्रमण से छुड़ाना हो, वे जीव ऐसी भावना करें कि मैं तो परमात्मस्वरूप हूँ; जिस परमपद को मैं साधना चाहता हूँ, वह मुझमें ही है; अपना परमात्मस्वभाव ही मुझे उपासने-योग्य है। ऐसी स्वभाव की भावना करो और राग की भावना छोड़ो। स्वभावभाव की भावना करके उसमें एकत्व करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष होता है। यदि राग से लाभ होने का भगवान का उपदेश हो तो वे भगवान स्वयं राग में क्यों नहीं रुके? भगवान, राग को छोड़कर वीतराग क्यों हुए? भगवान स्वयं राग को छोड़कर स्वरूप में स्थिर हुए, उसी से ऐसा सिद्ध होता है कि राग छोड़ने का ही भगवान का उपदेश है। राग से लाभ होता है—ऐसा जो मानता है, वह भगवान के उपदेश को नहीं मानता।

भगवान का उपदेश तो ऐसा है कि तेरा आत्मा ही परमात्मा है, उसकी भावना कर। अपना परमात्मस्वरूप ही तुझे आराध्य है; राग आराध्य नहीं है; इसलिये पर से तथा राग से पराङ्मुख होकर आत्मस्वभाव की ही आराधना कर। जो ऐसी आराधना करता है, वही भगवान के दिव्य उपदेश को झेलकर उनके पदचिह्नों पर चलता है। जो राग को धर्म मानकर राग की ही आराधना करता है, वह भगवान के मार्ग पर चलनेवाला नहीं है। अरे जीव! तुझे सर्वज्ञ-भगवान के मार्ग पर चलना हो तो राग की भावना छोड़कर चिदानन्दस्वरूप की ही भावना कर... उसकी भावना में एकाग्र होकर चैतन्य जिनप्रतिमा बन... ऐसा परमात्मा का मार्ग है। जो ऐसे मार्ग पर चलता है, वह स्वयं परमात्मा हो जाता है ॥३१॥

मेरा आत्मा ही परमात्मस्वरूप है, इसलिये वही मुझे उपास्य है—ऐसा जाननेवाला धर्मी क्या करता है ? - वह बतलाते हैं—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥३२॥

मेरा आत्मा ही परमात्मस्वरूप है, इसलिये वही मुझे आराध्य है—ऐसा मैंने जान लिया है; इसलिये अब बाह्य इन्द्रियविषयों से अपने आत्मा को च्युत करके, अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परम आनन्द से परिपूर्ण ऐसे अपने आत्मा को, मैंने अपने ही द्वारा प्राप्त किया है।

अपने ज्ञान-आनन्दस्वरूप को मैंने अपने ही द्वारा प्राप्त किया है, राग द्वारा नहीं। राग के मार्ग पर चलने से ज्ञान-आनन्दमय परमात्मपद की प्राप्ति नहीं होती। राग के मार्ग पर चलते-चलते धर्म का होना जो मानता है, वह जीव, परमात्मा के मार्ग को नहीं जानता; वह परमात्मा के पंथ पर—परमात्मा के पदचिह्नों पर नहीं चलता। जिसे परमात्मा होना हो, उसे परमात्मा के पंथ पर चलना चाहिये। बाह्य विषयों से च्युत होकर आत्मा के परम ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर होना ही परमात्मा का पंथ है। हे जीव! तुझे परमात्मा होना हो तो तू इसप्रकार परमात्मस्वरूप की भावना करके परमात्मा के पदचिह्नों का अनुसरण कर... परमात्मतत्त्व की अभेद भावना भाकर चैतन्य जिनप्रतिमा बन!

धर्मी कहता है कि अपने परमात्मस्वरूप को ही परम आराध्य जानकर, मैं अपने में स्थिर हुआ हूँ और इसप्रकार मैं जिनेन्द्र भगवान के पुनीत पदचिह्नों पर चला जा रहा हूँ। जो राग से धर्म मानता है, वह जीव, विषयों से च्युत होकर ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर नहीं होता; इसलिये वह

भगवान के पदचिह्नों पर नहीं आता। मैं अपने आत्मा की ही उपासना करके उपासक-साधक हुआ हूँ। ऐसी साधना ही परमात्म-पद की प्राप्ति का उपाय है। देहादि से भिन्न मेरा आत्मा ही परमात्मशक्ति से परिपूर्ण हैं—ऐसा जानकर धर्मी अपने आत्मा को ही उपास्य मानकर, उसमें एकाग्रता द्वारा उसकी आराधना करता है और उस उपाय से परमात्मपद प्राप्त करके अनंत काल तक शांत परमानन्द रस में ही मग्न रहता है ॥३२॥

ज्ञानी अंतर्मुख होकर देहादि से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप की ही आराधना करते हैं—ऐसा ३२ वीं गाथा में कहा। अब, देहादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप मेरा आत्मा ही मुझे आराध्य है—ऐसा जो नहीं जानता, वह जीव घोर तप करे, तथापि मुक्ति प्राप्त नहीं करता—ऐसा अब कहते हैं:—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

इसप्रकार अपने उपयोग को बाह्य विषयों से च्युत करके, अर्थात् अंतर्मुख करके, देहादि से भिन्न अविनाशी आत्मा को जो जीव नहीं जानता, वह महान तप करे, तथापि निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

निर्वाण का मार्ग तो अंतर में आत्मा के आधार से है। आत्मा की शक्ति को जो नहीं जानता, वह पराधीनरूप से संसार में भटकता है। आत्मा दैवी चैतन्यशक्ति वाला देव है, स्वयं ही अपना आराध्य देव है।

आप किस शक्ति के उपासक हैं?—ऐसा पूछने पर धर्मी कहता है कि मैं अपनी चैतन्यशक्ति का ही उपासक हूँ। अपनी चैतन्यशक्ति को जानकर उसकी उपासना के बिना अन्य किसी उपाय से मुक्ति नहीं होती।

[वीर संवत् २४८२, अषाढ़ कृष्णा ४]

जिसे देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व का भान नहीं है, चैतन्य के आह्लाद का वेदन नहीं है और देह को ही आत्मा मानकर घोर तपश्चरण करता है, वह जीव घोर तप करने पर भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता; मात्र खेद को ही प्राप्त होता है। आनन्द में लीनता हो, वहाँ तो खेद के बिना सहज ही तप हो जाता है।

शरीर को धर्म का साधन माननेवाला शरीर को ही आत्मा मानता है। देह से पार चैतन्यतत्त्व ही धर्म का साधन है। जो अविनाशी चैतन्य का अवलोकन नहीं करता और शरीर को आत्मा मानता

है, उसकी तो दृष्टि ही विपरीत है। विपरीत दृष्टि से चाहे जितने व्रत-तप-त्याग करे किन्तु उसे मुक्ति नहीं होती; वह मोक्ष के कारण को नहीं जानता। आत्मा क्या और अनात्मा क्या—उसके भेदज्ञान बिना धर्म का साधन नहीं होता। शुद्ध चिदानन्दस्वभाव मैं हूँ—इसप्रकार जहाँ ज्ञान स्वोन्मुख हुआ, वहाँ रागादि को हेय जानकर उससे विमुख हुआ। यदि राग को हेय न जाने तो ज्ञान उसकी उपेक्षा करके स्वोन्मुख कैसे हो? ज्ञायकमूर्ति आत्मा ही मुझे उपादेय है—ऐसा जानकर स्वभाव की साधना के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष का उपाय नहीं है। चैतन्य के आनन्द में लीनता के बिना अज्ञानी जो तप आदि करता है, वह सब क्लेश है। भगवान जिनदेव की आज्ञा को जाने बिना वह क्लेश करता है तो करे, किन्तु उस क्लेश द्वारा कहीं मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। वास्तव में तो जिसमें क्लेश है, उसे तप कहा ही नहीं जाता; तप तो उसे कहा जाता है, जहाँ चैतन्य का प्रतपन हो... चैतन्य के आनन्द का उग्र अनुभव हो... जहाँ चैतन्य की शांति का वेदन नहीं है, वहाँ वास्तव में तप नहीं है किन्तु 'ताप' है, क्लेश है।

दु:ख का कारण तो विकार है। चैतन्यस्वभाव और विकार—इन दोनों का जहाँ भेदज्ञान नहीं है, वहाँ विकार से आत्मा का छुटकारा कैसे हो? आत्मा का स्वभाव क्या और उससे विरुद्ध विभाव क्या—उन दोनों की भिन्नता को जो नहीं जानता और देहादि को ही आत्मा मानता है, उसकी तो मूल में भूल है। जहाँ मूल में भूल है, वहाँ जो भी साधन किये जायें, वे सब व्यर्थ हैं। आत्मा के ज्ञान बिना वह भूल दूर नहीं होती और निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये देह से भिन्न स्वसंवेद्य ज्ञानानन्दतत्त्व को जानने का उपदेश है।

मोक्ष तो देहरहित है-रागरहित है। देह को और राग को ही जो आत्मा का स्वरूप मानता हो, वह उससे कैसे छूटेगा? चैतन्यस्वभाव, देह से और राग से पार है; उसका स्वसंवेदन ही मोक्ष का उपाय है। देह को तथा राग को आत्मा मानकर मंद कषाय से तप करे, वह अनाज को छोड़कर मात्र भूसी कूटने के समान है; उसके तप को ज्ञानी, अज्ञान तप-कुतप-बालतप कहते हैं। और ऐसे अज्ञानतप से कभी मुक्ति नहीं होती। रागादि से लाभ माननेवाले को मंद कषाय कहना भी व्यवहाराभास का स्थूल व्यवहार (मात्र शुभपरिणाम की अपेक्षा से) है; अभिप्राय की अपेक्षा से तो वह अनंत कषाय में डूबा है।

चेतनस्वरूप आत्मा के अंतरंग परिचय के बिना शुभराग से चाहे जितने व्रत-तप करे, तथापि मुक्ति का उपाय हाथ नहीं आता। देह से और राग से पृथक् होना है, उसके बदले जो देह को

और राग को ही आत्मा मानता हो तो उनसे कब छूट सकेगा? देह से और राग से भिन्न मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ—ऐसा ज्ञान करके, उसमें एकाग्रता द्वारा ही जीव मुक्त होता है।

अज्ञानी को चैतन्य के आनन्द का भान नहीं है; इसलिये उसके व्रत-तप तो सांसारिक भोग के हेतु ही हैं; आत्मा के अतीन्द्रिय चैतन्य विषय की रुचि छोड़कर जिसने व्रत-तप के राग की रुचि की—राग से हित माना, उस जीव को संसार के भोग की प्राप्ति है; और संसार के भोग की वांछा तो महान अशुभ (-मिथ्यात्व) है; उसके फल में वह जीव घोर संसार में परिभ्रमण करेगा।

व्रत-तप में खेद के परिणाम हों, वह तो पाप हैं; किन्तु कदाचित् शुभभाव से व्रत-तप करे तो भी ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में एकाग्रता के बिना वह सब निरर्थक है; उसका फल भी संसार ही है।

इस ३३ वीं गाथा में ऐसा कहा है कि अज्ञानी, घोर तपश्चरणादि करने पर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता, किन्तु क्लेश ही पाता है। उसके समक्ष ज्ञानी की बात करते हुए अब ३४ वीं गाथा में कहेंगे कि—ज्ञानी, भेदज्ञान द्वारा चैतन्य के आह्लाद का अनुभव करता हुआ घोर तपश्चरणादि में भी किञ्चित् क्लेश प्राप्त नहीं करता।

वीर कुँवर की बाल्यावस्था के

दो प्रसंग

[सोनगढ़-जिनमंदिर के एक भित्ति चित्र में अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी की बाल्यावस्था के दो प्रसंगों का अत्यन्त भाववाही दृश्य है...
उन्हीं प्रसंगों की कथा यहाँ दी जा रही है]

[१]

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म हुआ और इन्द्रादि देवों ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक भगवान का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया... मेरुपर्वत पर जन्माभिषेक करके, नगर में लौटे और बाल तीर्थंकर को माता-पिता को सौंप दिया। फिर पूजन

और ताण्डव नृत्यु करके इन्द्रादि देव अपने स्थान को चले गये.. जाते समय इन्द्र ने वहाँ कुछ देवों को नियुक्त किया और आज्ञा दी कि—हे देवों! तुम इन बाल तीर्थंकर प्रभु को खिलाने के लिये यहाँ रहना... छोटे-से बालक का रूप धारण करके तुम भी उनके साथ क्रीड़ा करना और उनकी देखरेख रखना।

एक दिन भगवान के माता-पिता ऊपर अट्टालिका पर बैठे हैं और नीचे बाल तीर्थंकर खेल रहे हैं एवं देव उन्हें खिला रहे हैं।

उसी काल पार्श्वनाथ प्रभु के शासन में दीक्षित संजय और विजय नाम के दो मुनिराज पृथ्वी को पावन करते हुए विचर रहे थे... वे चारण-ऋद्धिधारी महान सन्त थे... यद्यपि वे महान श्रुतधर थे, किन्तु किसी सूक्ष्म तत्त्व के सम्बन्ध में उन्हें संदेह रहता था। गगन में विहार करते हुए वे दोनों मुनिवर सिद्धार्थ राजा के महल के निकट आये; उस समय बर्द्धमान कुँवर, देव के साथ खेल रहे थे... उन बाल तीर्थंकर की मुद्रा को देखते ही संजय और विजय दोनों मुनिवरों का सन्देह दूर हो गया... और उन्हें श्रुत की विशेष निर्मलता प्रगट हुई। उन दोनों मुनिवरों ने वर्द्धमानकुमार का नाम 'सन्मतिनाथ' रखा... और उल्लासपूर्वक बोले कि यह बालक सन्मति के नाथ अर्थात् केवलज्ञान के स्वामी होंगे।

[२]

स्वर्ग में इन्द्र की सभा भरी है... देव अनेक प्रकार की चर्चा कर रहे हैं; इतने में इस बात की चर्चा प्रारम्भ हुई कि—इससमय भरतक्षेत्र में सबसे बलवान कौन है? अनेक देवों ने अपना-अपना अभिप्राय व्यक्त किया.. अन्त में इन्द्र महाराज ने कहा कि—देवों! इस समय भरतक्षेत्र में अंतिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानकुमार का जन्म हो चुका है और बाल्यकाल होने पर भी वे सबसे अधिक बलवान हैं। तीन ज्ञान के धारी उन बाल तीर्थंकर का बल आश्चर्यकारी है।—ऐसा कहकर अनेक प्रकार से भगवान के बल आदि की प्रशंसा की।

''एक छोटे से बालक में इतना महान बल कैसे हो सकता है!''—ऐसा सन्देह होने पर संगम नाम का एक देव, भगवान के बल की परीक्षा करने को उद्यत हुआ और जहाँ भगवान अनेक बालकों के साथ खेल रहे थे वहाँ आया...

दीप्तिमान राजकुमार वर्द्धमान बाल्यावस्था से प्रेरित होकर एक उद्यान में छोटे-छोटे राजकुमारों के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं... वे उद्यान के एक वृक्ष पर खेल रहे हैं। इतने में तो...

फूँ.. फूँ.. फूँ.. करता हुआ एक भयंकर फणिधर आया और उस वृक्ष के तने पर नीचे से ऊपर तक लिपट गया... उस भयानक फणिधर को देखते ही अन्य बालक तो भय से काँपने लगे... और वृक्ष की शाखाओं से नीचे कूदकर इधर-उधर भागे... महान भय उपस्थित होने पर महान पुरुष के सिवा कौन खड़ा रह सकता है ? वर्द्धमानकुँवर तो निर्भय खेल रहे है... इतना ही नहीं किन्तु उस जीभ लपलपाते हुए भयंकर फणिधर के फन पर चढ़कर उन्होंने इसप्रकार क्रीड़ा की मानों वे अपनी माँ की गोद में खेल रहे हों!

कुछ ही देर में वह फणिधर अदृश्य हो गया और उसके स्थान पर एक देव प्रगट होकर भगवान की स्तुति करने लगा। स्वर्ग से भगवान के बल की परीक्षा करने के लिये आया हुआ संगम देव ही यह सब कर रहा था... बाल्यकाल में ही भगवान का ऐसा महान पराक्रम देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया और उसने उनका 'महावीर' नाम रखा।

ज्ञानी और अज्ञानी कार्य में महान अन्तर

एक के कार्य का फल मोक्ष-दूसरे का संसार

[सुरेन्द्रनगर के प्रवचन से : वैशाख शुक्ला २, सं० २४८४]

प्रथम तो अंतर से स्वीकृति लाकर स्वरूप का नि:शंक निर्णय करे तो पुरुषार्थ का वेग स्वभावोन्मुख हो। स्वरूप के नि:सन्देह निर्णय बिना वीर्य के उत्साह का वेग स्वोन्मुख नहीं होता।

भगवान महावीर का बोध तो अंतर के सूक्ष्म स्वभाव का है; उस सूक्ष्म स्वभाव को समझने की अभिलाषा जागृत होना चाहिये। भगवान महावीर के बोध का पात्र कौन ?—तो कहते हैं कि सदैव सूक्ष्म बोध का अभिलाषी।

जिसे जन्म-मरण का अन्त लाना हो और स्वतंत्र सुख प्रगट करना हो—ऐसे जीव की यह बात है। चार गति में जिसे कोई भी अवतार अच्छा लगता हो, उसमें सुख भासित होता हो, वह उससे छूटने का प्रयत्न क्यों करेगा? जीव अपने अज्ञान एवं मोह के कारण चारों गति में परिभ्रमण करता है और दु:ख भोगता है; किन्तु वह दु:ख उसे वास्तव में दु:ख भासित नहीं होता। अरे, चारों गति का भाव दु:खरूप है। चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही सुख है; किन्तु जीव ने कभी सत्समागम से प्रीति पूर्वक उसकी बात ही नहीं सुनी है। चैतन्यस्वरूप से च्युत होकर राग-द्वेषादि को ही अपना कार्य मानता हुआ अज्ञानी जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

जीव अपने स्वभाव को करें या विकार को करें, किन्तु पर को करने की शक्ति किसी जीव में नहीं है। अज्ञानी जीव अज्ञानरूप से क्या करता है?—तो कहते हैं कि—'मैं रागादि का कर्ता, मैं पर का कर्ता'—ऐसी मिथ्याबुद्धिपूर्वक अज्ञानरूप से रागादि को करता है, किन्तु परवस्तु को वह नहीं कर सकता। ज्ञानी अपने आत्मा का ज्ञानानन्दस्वरूप से अनुभव करता हुआ ज्ञाता ही रहता है, वह विकार का कर्ता नहीं होता। इसके अतिरिक्त ज्ञानी या अज्ञानी कोई जीव परवस्तु में तो कुछ नहीं करता; प्रत्येक जीव का कार्य क्षेत्र अपने में ही है, बाह्य में किसी का कार्य क्षेत्र नहीं है। ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव में रहता हुआ ज्ञानभाव को ही करता है; विकार की पकड़ में वह नहीं आता; अपने ज्ञान को विकार से पृथक् ही रखता है और अज्ञानी, विकार के जाल में फँसकर उस विकार को ही अपना कर्तव्य मानकर रुक जाता है। विकार की क्रिया में अटका हुआ जीव, कर्मों से बँधता है, इसलिये भगवान ने उस विकारी क्रिया का निषेध किया है। और विकाररहित ज्ञानक्रिया, वह मोक्ष का कारण है; इसलिये उसका निषेध नहीं किया जाता। अज्ञानी जीव, क्रोधादि आस्रवभाव को आत्मा के साथ एकमेक मानकर चैतन्य का अनादर करते हैं; इसलिये वे क्रोधादि में नि:शंक होकर अपने रूप से वर्तते हैं; 'जिसप्रकार ज्ञान मैं हूँ, उसीप्रकार क्रोधादि मैं भी हूँ'—इसप्रकार नि:शंक होकर क्रोधादि के साथ एकमेकरूप से वर्तते हैं, किन्तु ज्ञान और क्रोधादि के बीच किंचित् अंतर नहीं देखते;—ऐसे जीव अपने अज्ञान के कारण रागादि में वर्तते हुए कर्मों से बँधते हैं। 'मैं तो ज्ञानी हूँ, क्रोधादि मेरे ज्ञानस्वभाव से विपरीत हैं, वह मैं नहीं हूँ;'—इसप्रकार दोनों को भिन्न-भिन्न जानकर ज्ञानी जीव नि:शंकरूप से ज्ञानभाव में ही वर्तता है; क्रोधादि में किंचित् अपनत्वरूप प्रवर्तन नहीं करता;—इसप्रकार ज्ञान को तथा क्रोधादि को भिन्न-भिन्न जानता हुआ ज्ञानी अपने ज्ञान

में ही वर्तता हुआ कर्मों से नहीं बँधता किन्तु छूटता ही जाता है। अंतर में ऐसा भेदज्ञान करना ही मोक्ष का उपाय है।

देखो, भाई! यह अंतर की सूक्ष्म बात है; और आत्मा की मुक्ति का उपाय तो सूक्ष्म ही होगा न! स्थूलभाव अर्थात् अज्ञानभाव के कारण तो अनंतकाल से परिभ्रमण कर ही रहा है; उस परिभ्रमण से छूटने के लिये भीतर लक्ष करके यह सूक्ष्म बात समझने योग्य है। भगवान महावीर के बोध का पात्र कौन है?—कहते हैं कि जो सदैव सूक्ष्म बोध का अभिलाषी हो। भगवान महावीर का बोध का तो अंतर के सूक्ष्म स्वभाव का है; उस सूक्ष्म स्वभाव को समझने की अभिलाषा जागृत होना चाहिये। पर का मैं करता हूँ और देहादि के कार्य मेरे हैं;—ऐसे स्थूलबुद्धि-अज्ञानबुद्धि का सेवन तो अनादि से कर रहा है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! पर का कार्य आत्मा करता है यह बात तो दूर रही, किन्तु रागादि भावों के साथ चैतन्यस्वभाव को एकमेक मानना भी व्यभिचारीबुद्धि है। जिसप्रकार परस्त्री या परपुरुष का संग लौकिक सज्जन को शोभा नहीं देता; अज्ञान सहित सज्जनता में भी वह नहीं होता; उसीप्रकार यहाँ ज्ञानसहित सज्जनता में अर्थात् ज्ञानी-धर्मात्मा की परिणति में रागादि परभावों का संग नहीं होता अर्थात् रागादि के साथ हितबुद्धि, कर्ताबुद्धि-एकत्वबुद्धि ज्ञानी को नहीं होती। परभावों के साथ एकताबुद्धि को शास्त्र में व्यभिचारिणीबुद्धि कहा है।

प्रथम तो निर्णण होना चाहिये कि मैं तो ज्ञानस्वभाव हूँ; रागादि भाव मेरे स्वभाव का कार्य नहीं है; राग का प्रवाह मेरे स्वरूप में से नहीं आया है।—ऐसे निःशंक निर्णय के बिना वीर्य के उत्साह का वेग स्वोन्मुख नहीं होता। प्रथम अंतर से स्वीकृति लाकर भाव भासनपूर्वक ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो पुरुषार्थ का वेग स्वभावोन्मुख हो। जहाँ जिसकी रुचि हो, उसी ओर वीर्य का वेग होता है। जिसे राग की रुचि है, राग ही मेरा कार्य—ऐसा मानता है, उसके वीर्य का वेग राग की ओर झुका है, किन्तु राग से हटकर अंतर के ज्ञानस्वभाव की ओर नहीं झुकता। अहा! आत तो ज्ञानभवनमात्र है। सहज उदासीन है, इसलिये परोन्मुखतारहित सहजरूप से ज्ञाता ही है; किन्तु अज्ञानी अपने उस सहज उदासीन स्वभाव को छोड़कर बहिर्मुख बुद्धि से रागादि का ही कर्ता होता है। अंतर्मुख होकर ज्ञाता नहीं रहता, किन्तु बहिर्मुख होकर विकार का कर्ता होता है—यह अज्ञानी का कार्य है। अरे भाई! ऐसा मनुष्य अवतार मिला, उसमें यह समझकर आत्मा का हित करना ही योग्य है। यह अवतार तो अल्पकाल में विलीन हो जायेगा; उसमें यदि सत्समागम से आत्मा की

दरकार नहीं की तो इस चौरासी के अवतार का कहीं अन्त नहीं आयेगा। अनंत अवतारों में तुझ पर चार गतियों के दु:ख पड़े, अब उनसे छूटने के लिये सन्तों की यह सीख है कि—अपने आत्मा को पहिचानो!

भाई! तुझे इस संसार परिभ्रमण के अनादिकालीन दु:खों से छुटने का अवसर प्राप्त हुआ है; उसमें विचार तो कर कि दु:ख से छूटने का उपाय क्या है?—पुण्य-पाप की वृत्तियाँ तो तू अभी तक करता रहा है; किन्तु उनमें कहीं शांति प्राप्त नहीं हुई; इसलिये विचार तो कर कि वे पुण्य-पाप आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं हैं; आत्मा उन पुण्य-पाप जितना नहीं है, वह तो पुण्य-पाप से पार नित्य चिदानन्दस्वरूप है; उसका एकबार लक्ष तो कर। चैतन्य का लक्ष करके उस ओर दृष्टि डाले तो अनंत काल की तेरी दीनता दूर हो जाये।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा की दृष्टि ही अंतरोन्मुख हो गई है; ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को ही वह अपने रूप से देखता है; उससे भिन्न जगत की कोई वस्तु उसे अपने रूप भासित नहीं होती; रागादि विकार स्वप्न में भी उसे अपने चिदानन्दस्वरूप के साथ एकमेकरूप भासित नहीं होते; इसलिये प्रतिक्षण ज्ञानभावरूप परिणमित होता हुआ वह उस विकार से छूटता जाता है। अज्ञानी जीव, विकार को ही देखता है, विकार से पार चैतन्यतत्त्व है, उसे तो वह अंतर्दृष्टि से झाँकता भी नहीं है—लक्ष में भी नहीं लेता; और विकार को ही तन्मयरूप से अपने में देखता हुआ उसी को करता है; इसलिये विकार कर-करके संसार में भटकता है। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के कर्तव्य में महान अंतर है और उस कर्तव्य के फल में भी संसार तथा मोक्ष जितना अंतर है। ज्ञानी के ज्ञानकार्य का फल मोक्ष है, अज्ञानी के विकार कार्य का फल संसार है। जड़ का कार्य तो अज्ञानी या ज्ञानी कोई कर ही नहीं सकता। इसप्रकार ज्ञानी तथा अज्ञानी का कार्य और उसका फल समझाया है।

भव्य जीवों के आनन्द की जननी
बारह अनुप्रेक्षा

[२]

अशरण भावना

[कार्तिकेयस्वामी की 'द्वादश अनुप्रेक्षा' के प्रवचनों में से
वैराग्यप्रधान सरल और सुन्दर लेख]

(पहली अनित्य भावना के लिये देखें, आत्मधर्म अंक १७१)

वैराग्य की बारह अनुप्रेक्षाएँ तो आनन्द की जननी हैं; जिसप्रकार माता अपने पुत्रों को आनन्द देती है, उसीप्रकार यह बारह वैराग्य भावनारूपी माता भव्य जीवों को आनन्द की जननी है; इनके यथार्थ चिंतन से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग के प्रति उत्साह पैदा होता है। अहा, तीर्थंकर भी दीक्षा के समय जिनका चिंतन करते हैं—ऐसी वैराग्यरस में झूलती हुई इन बारह भावनाओं का चिंतन करते हुए किस भव्य को आनन्द नहीं होगा ? ....किसे मोक्षमार्ग के प्रति उत्साह जागृत नहीं होगा ? ...इस संसार के दु:खों से जो थक चुका है, वह अंतर में चैतन्य की शरण ढूँढ़ता है।

वीतरागी मुनिराज श्री कार्तिकेय स्वामी इस शास्त्र के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि—त्रिभुवन के तिलक ऐसे श्री सर्वज्ञदेव को वन्दन करके मैं यह अनुप्रेक्षा कहूँगा।—कैसी अनुप्रेक्षा कहूँगा ?—कि "**भविकजन आनन्द जननी**" अर्थात् भव्य जीवों को आनन्द देनेवाली अनुप्रेक्षा कहूँगा। अंतर में सम्यग्दर्शनपूर्वक चिदानन्दस्वभाव के अवलम्बन से बारह वैराग्य-भावनाओं का चिंतवन, वह वीतरागी आनन्द की उत्पत्ति करनेवाला है। वस्तुस्वरूप से विपरीत तथा वैराग्यरहित ऐसे चिंतन तो अनेक प्रकार के हैं, परन्तु वे कोई जीव को आनन्ददायक नहीं हैं, उल्टे दु:खदायक हैं और वस्तुस्वरूप के अनुसार इन वैराग्य भावनाओं का चिंतन तो आनन्ददायक तथा दु:खों को दूर करनेवाला है। वस्तुस्वरूप के यथार्थ लक्षपूर्वक वैराग्य भावना में तत्पर रहना ही दु:खों से छूटने का श्रेष्ठ साधन है। अहा! ऐसी वैराग्य भावना में झूलते हुए मुनिवर चाहे जैसे घोर उपसर्ग के समय भी अपनी आराधना में तत्पर रहते हैं; किंचित् भी चलायमान नहीं होते। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि निकट भव्य जीवों को आनन्द उत्पन्न करनेवाली भावनाएँ मैं कहूँगा। जिनके संसार का अन्त

निकट आ गया है—ऐसे भव्य जीवों को इन वैराग्य भावनाओं से आनन्द होगा और उनका आत्मा मोक्षमार्ग में उत्साहपूर्वक आगे बढ़ेगा।

अहो! अडोल दिगम्बर वृत्ति को धारण करनेवाले, वन में वास करनेवाले, वैराग्य की मस्ती में डोलनेवाले और चैतन्य के आनन्द में झूलनेवाले मुनिवरों का अवतार सफल है... ऐसे सन्त-मुनिवर भी वैराग्य की बारह भावनाएँ भाकर वस्तुस्वरूप का चिंतन करते हैं और वीतरागता बढ़ाते हैं। यह भावनाएँ आनन्द की जननी हैं, क्योंकि वस्तुस्वरूप के अनुसार वैराग्य की भावनाओं का चिंतवन करने से चित्त की स्थिरता बढ़ती है और भव्य जीवों को आनन्द प्राप्त होता है; इसलिये यह भावनाएँ 'भविकजन आनन्द जननी' है। इन बारह भावनाओं से भव्य जीव मोक्षमार्ग में उत्साहित होते हैं। दीक्षा के समय सर्व तीर्थंकर इन बारह भावनाओं का चिंतवन करते हैं। अहा! वैराग्यरस से परिपूर्ण इन बारह भावनाओं को भाते हुए किसे आनन्द नहीं होगा?—किसे मोक्षमार्ग में उत्साह जागृत नहीं होगा!!

बारह भावनाएँ कौन-कौन सी हैं?—(१) अनित्य भावना, (२) अशरण भावना, (३) संसार भावना, (४) एकत्व भावना, (५) अन्यत्व भावना, (६) अशुचित्व भावना, (७) आस्रव भावना, (८) संवर भावना, (९) निर्जरा भावना, (१०) लोकभावना, (११) बोधिदुर्लभ भावना और (१२) धर्म भावना;—इसप्रकार बारह वैराग्य भावनाएँ हैं। अनुक्रम से प्रत्येक भावना का स्वरूप कहा जायेगा। (पहली 'अनित्य भावना' कर विवेचन आत्मधर्म अंक.. १७१ में आ चुका है; अब दूसरी 'अशरण भावना' का विवेचन करते हैं।)

संसार की अशरणता का चिंतवन करके, चैतन्यस्वभाव की शरण लेने के लिये यह अशरण भावना है। अरे, इस अशरण संसार में जहाँ देव-देवेन्द्र और चक्रवर्ती आदि काल के गाल में चले जाते हैं, वहाँ जीवों को क्या शरण है! इन्द्रपद या चक्रवर्ती पद किसी जीव को शरणभूत नहीं है; चैतन्यपद ही जीव को शरणभूत है। स्वर्ग में इन्द्र के चारों ओर हजारों देव सेवा में तत्पर हों, तथापि आयु पूर्ण होने पर उस इन्द्र को भी कोई नहीं बचा सकता, तो फिर साधारण जीवों की तो बात ही क्या! हाँ, एक चैतन्यस्वभाव ही जीवों को मरण से बचाने में समर्थ है; इसलिये हे जीव! समस्त संसार को अशरण जानकर अपने चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख हो और उसी की शरण ले। उसकी शरण में ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति होगी, जहाँ कभी मरण नहीं है, दुःख नहीं है, भय नहीं है।

सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि—हे जीव! तुझे बाह्य में कोई शरण नहीं है; बाहर के भाव भी

तुझे शरणभूत नहीं होते; देहादि से निराला तेरा पवित्र चैतन्यस्वभाव ही तुझे अंतर में शरणरूप है। बड़े-बड़े सम्राट और इन्द्र भी क्षणमात्र में काल के मुँह में चले जाते हैं तो फिर जीव को कौन शरण है? शरण तो उसे कहा जाता है जो अपनी रक्षा करे;—जन्म-मरणादि के दुःखों से आत्मा को बचाये। जन्म-मरण के दुःखों से आत्मा की रक्षा करनेवाला तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है; इसलिये वही शरणरूप है।

देखो न, यहाँ प्रातःकाल जिसका राज्याभिषेक होता है, वही सायंकाल श्मशान में भस्म होते दिखाई देता है,—ऐसी तो अनेक घटनाएँ संसार में होती रहती हैं; महत्वाकांक्षी पति-पत्नी विवाह करके घर लौट रहे हों और रेल-दुर्घटना हो जाने से दोनों मर जाते हैं;—इसप्रकार जो कुछ ही समय पूर्व विवाह मण्डप में थे, वे ही कुछ समय पश्चात् श्मशान में दिखाई देते हैं। विवाह के समय तो पत्नी सोचती होगी कि यह पतिदेव मुझे जीवन भर शरण देंगे... किन्तु वह स्वयं ही घर पहुँचने से पूर्व अशरण रूप से मृत्यु की शरण में पहुँच जाती है।—ऐसे अनेक दुःखद प्रसंग देखते हुए भी मोह-मूढ़ जीवों को वैराग्य नहीं आता। भाई! संसार को अशरण जानकर उससे विमुख हो, और अपने आत्मस्वभाव की शरण ले। इस असार संसार में आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। हे जीव! बाह्य में शरण मानकर तू अनंत काल से दौड़ रहा है... तथापि तुझे कहीं शरण नहीं मिली... इसलिये अब अंतर्मुख हो... तेरी शरण अंतर में है। यह संसार या संसार के संयोग स्वप्न में भी शरणभूत मानने योग्य नहीं हैं; अंतर के एक चिदानन्दतत्त्व को ही शरणभूत समझकर उसकी भावना करने योग्य है। इस संसार के दुःखों से जो थक चुका हो, वह अंतर में चैतन्य की शरण को ढूँढ़ता है।

जिसप्रकार जंगल में शेर के पंजे में फँसे हुए हिरन का कोई रक्षक नहीं होता; उसीप्रकार संसार में मृत्यु के मुख में पड़े हुए जीव का कोई रक्षक नहीं है। जिसप्रकार शेर के मुँह में पड़ा हुआ हिरन अशरणरूप से मरता है, उसीप्रकार जिसने शरणभूत ऐसे चैतन्यस्वभाव की दरकार नहीं की, उसका लक्ष भी नहीं किया, ऐसा जीव मृत्युरूपी सिंह के मुँह में पड़कर अशरणरूप से मरता है। जहाँ काल पूरा हुआ, वहाँ कौन शरणभूत हो सकता है? अंतर में जो शरण है, उसे तो जाना नहीं है और बाह्य में शरण मानी है; किन्तु बाह्य में कोई एक खण भी शरणभूत नहीं हो सकता। अरे, बड़े-बड़े राजा भी जंगल में अशरणरूप से मरते हैं; मरते समय उन्हें पानी भी नहीं मिलता! और कदाचित् मृत्यु के समय चारों ओर सगे-सम्बन्धी खड़े हों तथा सर्व प्रकार की अनुकूलता हो

तथापि मरनेवाले जीव को वे कोई शरणभूत नहीं होते। शरणभूत तो शुद्ध रत्नत्रय ही है। यहाँ मृत्यु-काल का तो उदाहरण दिया है, किन्तु मृत्यु की भाँति जीवितदशा में भी जीव को कोई शरणभूत नहीं है।—ऐसा जानकर बिजली की चमक समान इस मनुष्य भव में भेदज्ञान करके शुद्ध आत्मस्वभावी शरण प्राप्त करो!—ऐसा सन्तों का उपदेश है।

मरते हुए को बचाने के लिये तीव्र मोह के कारण कुछ जीव कुदेवादि मानता भी करते हैं; किन्तु भाई! यदि मरते हुए को कोई मृत्यु से बचाने में समर्थ होता तो जगत में किसी की मृत्यु ही नहीं होती। कोई देव, मन्त्र-तन्त्र या क्षेत्रपाल आदि मरते हुए की रक्षा कर सकते तो मनुष्य अक्षय हो जाते! किन्तु वे कोई जीव को मृत्यु से नहीं बचा सकते। मृत्यु से बचने का तो एक ही उपाय है कि देह रहित ऐसे सिद्धपद की आराधना करना। इसके अतिरिक्त मृत्यु से बचने के लिये तंत्र-मंत्र कराना या कुदेवादि की मानता करना, वह तो तीव्र मूढ़ता है। सर्वज्ञ का सच्चा भक्त, कुदेवादि को नहीं मानता। भाई! देह की चिंता को छोड़ और चैतन्य का चिंतन कर; वही तुझे शरणभूत है। शरीर तो तुझसे पृथक् ही है, वह तो उसका समय आने पर चला जायेगा; उसमें कहीं तेरी शरण नहीं है। रत्नत्रय धर्म ही अमरपद को देनेवाला 'अमर फल' है; इसके अतिरिक्त जीव को मृत्यु से बचानेवाला अन्य कोई अमर फल जगत में है ही नहीं।

भले ही अति बलवान हो, भयंकर हो अथवा अनेक प्रकार के उपायों से रक्षित हो, तथापि इस संसार में मृत्युरहित कोई दिखाई नहीं देता। मजबूत किला हो, अंगरक्षक हों या शस्त्र हों, उनके द्वारा मृत्यु से रक्षा नहीं हो सकती; किनतु ज्ञानस्वभाव की शरण ले तो वह ज्ञानस्वभाव स्वतः रक्षित ही है; उसकी रक्षा के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं होती; उसमें मृत्यु का प्रवेश ही नहीं है। तथा अन्य कुदेवादि जब स्वयं ही अशरण हैं, तब वे दूसरे की क्या रक्षा करेंगे? भाई, अपने आत्मा की सच्ची रक्षा के लिये उपयोग को अंतरोन्मुख करके, ऐसे शुद्धोपयोगरूपी गढ़ की रचना कर कि शरीर में लाखों बिच्छु काटे, तथापि चैतन्य में वेदना का प्रवेश न हो, चैतन्य की शरण न छूटे और आत्मा का भावमरण न हो। 'अरिहंत की शरण, सिद्ध की शरण'—यह तो व्यवहार से है, और निश्चय से तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म ही शरण है।

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य! आराध्य! प्रभाव आणी;
अनाथ एकान्त सनाथ थाशे, अेना बिना कोई न बाह्य स्हाशे।

(श्रीमद् राजचन्द्र अशरण भावना)

जिसने अंतर्मुख होकर रत्नत्रय धर्म प्रगट किया, उसी ने अरहंत-सिद्ध आदि की सच्ची शरण ली है।

देखो, यह अशरण भावना! अशरण भावना भी चैतन्यस्वभाव की शरण में ही भायी जाती है। चैतन्यस्वभाव की दृष्टि बिना एक भी भावना सच्ची नहीं होती। चैतन्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक भायी जानेवाली यह वैराग्य भावनाएँ, भविक जीवों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करनेवाली हैं। जिसने यह वैराग्य भावनारूपी कवच पहिना, उसे जगत की कोई प्रतिकूलता बाधक नहीं हो सकती; वैराग्यभावना द्वारा उपयोग को अंतर्मुख करके उसने आत्मा की रक्षा का ऐसा गढ़ बना लिया कि जिसमें अणुबम आदि तो क्या, किन्तु कोई परभाव भी प्रवेश नहीं कर सकते। जो बाह्य में शरण ढूँढ़ता है, वह जीव अज्ञानी है।

चाहे जितने उपाय करने पर भी संसार में कोई जीव मृत्यु से नहीं बच सकता।—ऐसा अशरणपना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने पर भी मूढ़ जीव सुगाढ़ मिथ्यात्व भाव के कारण सूर्य, शनि आदि ग्रहों को या भूत, व्यंतर, पिशाच, जोगिनी, चण्डिका आदि को या मणिभद्र आदि को शरणभूत मानते हैं। कोई कुदेवादि रक्षा कर देंगे—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व की तीव्रता है। अरे, जहाँ वे बेचारे स्वयं ही अशरणरूप से संसार परिभ्रमण से दु:खी हो रहे हैं, वहाँ वे तुझे क्या शरण देंगे? जो जीव, देहादि की अनुकूलता के हेतु कुदेवादि को मानने के लिये तैयार हो जाता है, वह देहादि का भेदज्ञान करके चैतन्य का भान तो कहाँ से करेगा? देहादि की अनुकूलता रहे या न रहे, किन्तु ज्ञानी कदापि कुदेवादि को नहीं मानते। अंतर में चैतन्य की शरण प्राप्त कर ली है, इसलिये अपनी रक्षा के हेतु ज्ञानी बाह्य में शरण नहीं ढूँढ़ते। वे जानते हैं कि यह देहादि कहीं मेरी वस्तु नहीं है, यह तो संयोगी वस्तुएँ हैं और संयोग का तो वियोग होता ही है। जिसका वियोग होता है, उसकी शरण कैसी? मेरे स्वभावभूत तो ज्ञान-दर्शन हैं, उनका मुझे कभी वियोग नहीं होता। जो अपना स्वभाव हो, उसके साथ एकता होती है, किन्तु संयोग के साथ एकता नहीं होती; और जिसके साथ एकता न हो, उसकी शरण भी नहीं होती। इसलिये जगत का कोई भी संयोग जीव को शरणभूत नहीं है; एकमात्र अपना स्वभाव ही शरणभूत है। जिसप्रकार समुद्र के बीच जहाज में बैठे हुए पंछी को समुद्र में कोई शरणभूत न होने से उड़-उड़कर पुन: जहाज की शरण में आ जाता है; उसीप्रकार जिसने ऐसा निर्णय किया है, उस धर्मात्मा जीव की परिणति संसार में अन्यत्र कहीं शरण न होने से पुन: पुन: अंतर में चैतन्यशरण की ओर ढलती रहती है।—यह अशरण भावना का तात्पर्य है।

आयु का क्षय होने पर मृत्यु होती है। जीव को कोई भी दूसरा आयु प्रदान कर नहीं सकता, इसलिये देवेन्द्र भी मृत्यु से रक्षा करने में समर्थ नहीं है। कोई मुझे बचा लेगा अथवा मैं किसी को बचा लूँगा—ऐसी कल्पना तो भ्रमणा है। इस देह के वियोगरूप मृत्यु अवश्य होनेवाली है—ऐसा निर्णय करने पर, देह तथा देह सम्बन्धी समस्त विषयों के प्रति उदासीन वृत्ति होकर चैतन्य-सन्मुखता होती है। जिसे शरीरादि बाह्य विषयों के प्रति उदासीन वृत्ति भी नहीं है—उससे भिन्नत्व की भावना भी नहीं है और उसी में तीव्ररूप से आसक्त है, वह जीव विषयातीत अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव का अनुभव कहाँ से करेगा?

सुरेन्द्र भी यदि अपने आत्मा को मृत्यु से बचाने में समर्थ होता तो सर्वोत्तम भोगों से संयुक्त ऐसे स्वर्ग को वह क्यों छोड़ता! आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग के देव भी वहाँ से च्युत हो जाते हैं; वहाँ कोई उन्हें मृत्यु से बचाने में शरणभूत नहीं है। मिथ्यादृष्टि देव तो खेदपूर्वक अशरणरूप से मरते हैं और सम्यग्दृष्टि देव, मृत्यु के समय स्वर्ग की शाश्वत जिनप्रतिमाओं के चरणों में जाकर जिनेन्द्रदेव की शरणपूर्वक देह त्याग करते हैं। अंतर में चैतन्य की शरण भासित हुई है और बाह्य में जिनेन्द्रदेव की शरण लेते हैं कि 'हे देव! इस संसार में जीवों को आपकी ही शरण है; इस संसार में भटकते हुए जीवों को आपके पवित्र शासन की ही शरण है... हे प्रभो! अब हम मनुष्य होकर, आपके शासन की शरण में आत्मा की पूर्ण सिद्धि साधेंगे।' जिसने चैतन्य की शरण को जाना है—ऐसा धर्मी तो उपरोक्त भावनापूर्वक देह को छोड़ता है; किन्तु जिसने जीवन में चैतन्य की शरण नहीं ली और देहादि विषयों की शरण में जीवन व्यतीत किया है, वह जीव अशरणरूप से मरता है। कोई धर्मात्मा जीव कदाचित् वन-जंगल में अकेला हो, तथापि वह अशरण नहीं है; अंतर में चैतन्य की शरण से वह निर्भय है। रामचन्द्रजी ने सीताजी को भयानक वन में भेज दिया था, जहाँ शेर, चीते आदि वन्य प्राणी विचर रहे थे। सीताजी वहाँ मूर्च्छित होकर रुदन करने लगीं, तथापि उस दशा में भी वे अशरण नहीं थीं; उनके अंतर में उससमय भी निःशंक भान था कि—'सम्यग्दर्शनादि धर्मरूप से परिणमित हमारा आत्मा ही हमें शरणभूत है।' सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित अपना आत्मा ही शरणरूप है; ऐसा जानकर परम श्रद्धापूर्वक उसका सेवन करो!—ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है:—

दर्शनज्ञानचारित्रं शरणं सवेस्य परमश्रद्धया।
अन्यत् किमपि न शरणं संसारे संसरताम्॥३०॥

हे भद्र! शरणरूप ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र का तू परम श्रद्धापूर्वक सेवन कर; संसार में संसरण करनेवाले जीवों को उसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। आत्मा का चिदानन्दस्वभाव—जिसमें भय नहीं है, दुःख नहीं है, जन्म नहीं है, मरण नहीं है—वही शरणभूत है; इसलिये हे जीव! उसका ज्ञान कर, उसकी श्रद्धा कर और उसी में लीनता कर।

जंगल में शेर पीछा कर रहा हो तो वहाँ भयभीत होकर वृक्ष पर चढ़कर अपनी रक्षा करता है;—इसप्रकार शरीर को बनाये रखने की चिन्ता और प्रयत्न तो करता है, किन्तु भीतर मिथ्यात्वादि रूपी शेर-चीते आत्मा का पीछा कर रहे हैं, उनसे आत्मा की रक्षा किसप्रकार की जाये, इस बात की बिल्कुल चिन्ता नहीं करता। देह की स्थिति पूर्ण होने पर वृक्ष कहीं तुझे शरणरूप नहीं होगा, किन्तु यदि चैतन्य की श्रद्धा करके उसकी शरण ले तो तुझे शेर का या किसी अन्य का भय नहीं रहेगा। सुकुमाल मुनि, सुकौशल मुनि आदि अनेक मुनिवर, चैतन्य की शरण लेकर उसकी आराधना में ऐसे लीन हुए कि बाह्य में जंगल के शेर-चीते आकर शरीर को खा गये, तथापि अपनी आराधना से चलायमान नहीं हुए—भयभीत नहीं हुए। जहाँ चैतन्य की शरण ली, वहाँ भय कैसा?

अहो! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मेरा स्वरूप है और वही मुझे शरण है। मेरी शरणभूत वस्तु मुझसे पृथक् नहीं होती। शुद्ध रत्नत्रयरूप परिणमित मेरा आत्मा स्वयं ही अपनी शरण है;—ऐसा जानकर हे जीव! तू परम श्रद्धापूर्वक रत्नत्रय की आराधना कर।

इस अशरण भावना की अन्तिम गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि—उत्तम क्षमादि वीतरागभावरूप परिणमित आत्मा स्वयं ही अपने को शरणभूत है; और मिथ्यात्वादि तीव्र कषायों में प्रवर्तमान आत्मा स्वयं ही अपना घात करता है। अन्य कोई उसे न तो शरण है और न कोई उसका घातक। क्रोधादि भावों द्वारा अपने शुद्धचैतन्यप्राण की हिंसा होती है; इसलिये वे भाव अशरण हैं; और उत्तम क्षमादि वीतरागभावों से आत्मा के चैतन्यप्राण की रक्षा होती है; इसलिये उस वीतरागभावरूप से परिणमित आत्मा शरणरूप है; उसी के द्वारा जन्म-मरण के दुःखों से रक्षा होकर आत्मा अविनाशी सिद्धपद को प्राप्त करता है।

प्रश्नः—पापभाव तो जीव को अशरणरूप हैं—यह ठीक है; किन्तु पुण्यभावों को भी अशरण कहकर किसलिये छुड़वाते हैं? यदि पाप और पुण्य दोनों भावों को छोड़ देंगे तो फिर शरण किसकी रहेगी?

उत्तरः—समयसार में भी ऐसा ही प्रश्न पूछा है। उसके उत्तर में आचार्य भगवान कहते हैं

कि—शुभ तथा अशुभ इन दोनों का निषेध किया जाने से, और इसप्रकार निष्कर्म दशा वर्तने से मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; जब पुण्य-पाप दोनों से रहित ऐसी निष्कर्म दशा वर्तती है, तब अपने ज्ञानस्वरूप में परिणमित ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है; उसमें लीन रहते हुए वे स्वयं परम अमृत का अनुभव करते हैं।—इसप्रकार ज्ञानस्वरूप में वर्तता हुआ ज्ञान ही स्वयं महाशरण है; उसकी शरण में मुनिवर परम आनन्द का अनुभव करते हैं। शुभराग के समय व्यवहार से पंचपरमेष्ठी की शरण है, और वस्तुस्वरूप से देखने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्मरूप से परिणमित पंचपरमेष्ठी समान अपना आत्मा ही शरण है; उससे भिन्न देहादि या रागादि कोई इस जीव को शरणरूप नहीं है।—इसप्रकार अशरणभावना भाकर चैतन्यस्वभाव की शरण लेना चाहिये; परम श्रद्धा से उसकी आराधना करना चाहिये।

वस्तुस्वभाव विचारथी शरण आपको आप;
व्यवहारे पंच परमगुरु, अवर सकल संताप।

— यहाँ अशरणभावना का विवेचन समाप्त हुआ।

अशरणभूत ऐसे संसार से विमुख होकर, परम शरणभूत ऐसे चिदानन्दस्वभाव की शरण लेकर, जो भवसमुद्र से पार हुए—ऐसे श्री बाहुबलि सवामी आदि वीतरागी संतों को नमस्कार हो!

क्रमबद्धपरिणाम और कर्तापना

प्रश्नः—पर्यायें क्रमबद्ध हैं; आत्मा की पर्यायें भी क्रमबद्ध जो होने योग्य हैं, वही होती हैं; इसलिये आत्मा उनका अकर्ता है—यह बात ठीक है ?

उत्तरः—नहीं; आत्मा अपनी पर्याय का अकर्ता है—यह बात ठीक नहीं है। आत्मा अपनी जिन-जिन क्रमबद्धपर्यायोंरूप से परिणमित होता है, उनका कर्ता वह स्वयं ही है; परन्तु यहाँ इतना विशेष समझने योग्य है कि 'आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है'—ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है, अथवा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ है, वह जीव, मिथ्यात्वादि भावों से परिणमित होता ही नहीं; इसलिये मिथ्यात्वादि भावों का तो वह अकर्ता ही है; तथा जो अल्प रागादि विकार होता है, उसमें भी वह एकत्वरूप से परिणमित नहीं होता, उस अपेक्षा से वह रागादि का भी अकर्ता है। किन्तु अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि निर्मल क्रमबद्धपरिणामों का तो वह कर्ता है। 'क्रमबद्धपरिणाम' का ऐसा अर्थ नहीं है कि आत्मा स्वयं कर्ता हुआ बिना ही वह परिणाम हो जाता है ! ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञानभाव करता हुआ स्वयं उसका कर्ता होता है और अज्ञानी अपने अज्ञानभाव को करता हुआ उसका कर्ता होता है।—इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने क्रमबद्धपरिणाम का कर्ता है।

[—चर्चा से]

हितप्रेरक वचनामृत

आत्मकल्याण की अभिलाषा

हे आत्मार्थी जीव!

यदि तुझे आत्मकल्याण की अभिलाषा जागृत हुई हो तो तू चिन्ता न कर, आत्मकल्याण का पन्थ अवश्य है... परन्तु ज्ञानी गुरु की शरण बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिये ज्ञानी के निकट जाकर तू अपने कल्याण-पंथ को जान लेना।

❀ ❀ ❀

अतीन्द्रिय सुख की कहानी

ज्ञानी के श्रीमुख से आत्मा के अतीन्द्रिय स्वभावसुख की कथा सुनकर जिस जीव के अन्तर में उल्लास छलकता है, वह आसन्न भव्य है।

❀ ❀ ❀

अहो, आत्मा का सम्पूर्ण ज्ञायकस्वभावपना और समस्त पदार्थों के परिणमन में रहनेवाला क्रमबद्धपना जिन्होंने अपनी अपूर्व देशना द्वारा समझाकर जिनशासन के गम्भीर रहस्य को स्पष्ट किया, उन मंगलमूर्ति श्री कहान गुरुदेव को नमस्कार हो।

❀ ❀ ❀

अनन्त काल में प्राप्त हुए इस चिन्तामणि समान मानव-जीवन को पाकर अरे जीव! तू विषय-भोगों से विरक्त हो... और चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का आस्वादी बन।

❀ ❀ ❀

दो वस्तुएँ

काल अनादि है, जीव भी अनादि है, और भव समुद्र भी अनादि है। अनादिकाल से भव समुद्र में भटकते हुए जीव ने दो वस्तुएँ कभी प्राप्त नहीं कीं—एक तो जिन स्वामी और दूसरा सम्यक्त्व। *[—परमात्म प्रकाश]*

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	समयसार पद्यानुवाद	।)
आत्मावलोकन	१)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८-१०-११-१२-१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।